निवेदन

श्री भगवद्भक्ति आश्रम रामपुरा रेवाड़ी के संस्थापक ब्रह्मीभूत श्री १०८ श्री पूज्य स्वामी परमानन्द जी महाराज ने अत्यन्त कृपा पूर्वक यह संग्रह सं० १९७८ में जब कि वे अपने परमभक्त स्वर्गीय ला० रामचन्द्रजी की कोठी दिल्ली में विराजते थे प्रकाशित कराया था। इस संग्रह को उनके भक्तों ने बहुत ही उत्तम समझा और शीघ्र ही इसकी २००० प्रतियां फिर छपी गईं। इसमें सर्व प्रथम पंच देवतोपासना है। इस उपासना में पांचों देवताओं की उपासना बड़े सुन्दर श्लोकों द्वारा की गई है। देवताओं की उपासना द्वारा साधक के हृदय में अपनी चित्त वृत्तियों को संसार से खींच कर इष्टदेवमें लगाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। उसी योग का इस पुस्तक में उपासना के पश्चात् भली प्रकार निरूपण किया गया है। जब अभ्यास द्वारा साधक की वृत्तियां संसार से हट कर अपने इष्टदेव में लग जाती है तब वह अपने इष्टदेव की इच्छा को ही परम इच्छा व जीवन का

मुख्य उपदेश समझने लग जाता है। वह अपने इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी का आश्रय भी नहीं लेता। इस प्रकार इस भक्ति योग का बहुत सरल भाषा में अनेक प्रमाणों से वर्णन किया है। सब से पश्चात् ब्रह्म चिन्तन है। मनुष्य जैसा संकल्प बार बार करता है वैसा ही वह बन जाता है। कीट भ्रमर का ध्यान करने से भ्रमर ही हो जाता है। इसी प्रकार जब एक निष्ठा से मनुष्य ब्रह्म चिन्तन बार २ करेगा तो वह ब्रह्म ही हो जायगा। इस प्रकार इस छोटी सी पुस्तक में पंच देवतोपासना योग मार्ग, भक्ति मार्ग और ब्रह्म चिन्तन आदि का वर्णन सब के हितार्थ किया गया है। जो कोई श्रद्धा भक्ति से इसका पाठ करेगा वह अवश्य ब्रह्मको प्राप्त होगा।

निवेदक

भूमानन्द

श्री ओ३म् तत्सत् श्रीसच्चिदानन्द
स्वरूपाय गुरवे नमः

—:o:—

॥ अथ मगलम् ॥

यतोऽनंत शक्तेरनन्ताश्च जीवाः ।
यतो निर्गुणा दप्रमेया गुणास्ते ॥
यतो भाति सर्वं त्रिधा भेद भिन्नं ।
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥१॥
यतो बुद्धिरज्ञान नाशो मुमुक्षो ।
र्यतः सम्पदो भक्त सन्तोषिकाः स्युः ॥
यतो विघ्न नाशो यतः कार्य सिद्धिः ।
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥२॥
यतोऽनन्त शक्तिः सशेषो बभूव ।
धरा धारणेऽनेक रूपे च शक्तः ॥

यतो नेकधा स्वर्ग लोका हि नाना ।
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥३॥
यतो वेद वाचोति कुण्ठा मनोभिः ।
सदा नेति नेतीति यत्ता ग्रणंति ॥
परब्रह्म रूपं चिदानन्द भूतं ।
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥४॥
त्वदीय सत्ता धर मेक दन्तं ।
गणेश मेकं त्रय बोधितारम् ॥
सेवन्त आपुस्त मजं त्रिसंस्थाः ।
तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥५॥
तत त्वया प्रेरित एव नादः ।
तेनेद मेवं रचितं जगद्वै ॥
आनन्दरूपं समभावसंस्थं ।
तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥६॥
त्वदाज्ञया भाति ग्रहाश्च सर्वे ।

नक्षत्र रूपाणि विभान्ति खे वै ॥
आधार हीनानि त्वया धृतानि ।
तमेक दन्तं शरण व्रजामः ॥७॥
मां पातु देवोऽखिल देवतात्मा ।
संसारकूपे पतितं गभीरे ॥
तन्नाम दिव्यं वर मन्त्र मूलं ।
धुनोतु मे सर्व मघं हृदिस्थम् ॥८॥
हे चन्द्रचूड़ मदनान्तक शूलपाणे
स्थाणो गिरीश गिरीजेश महेशशम्भो ॥
भूतेश भीतिभवसूदन मामनाथं ।
संसार दुःख गहनात् जगदीश रक्ष ॥९॥
हे विश्वनाथ शिव शंकर देव देव ।
गंगाधर प्रमथनायक नन्दिकेश ॥
वाणेश्वरान्धकरिपो हर लोकनाथ ।
संसार दुःखगहनात् जगदीश रक्ष ॥१०॥

श्री मन्महेश्वर कृपामय हे दयालो ।
हे व्योमकेश शितिकंठ गणाधिनाथ ॥
भस्मांगराग नृकपाल कलापमाल ।
संसार दुःख गहनात् जगदीश रक्ष ॥११॥
सर्वत्र मां रक्षतु विश्वमूर्त्तिः ।
ज्योतिर्मयानन्द घनश्चिदात्मा ॥
अणोरणीयानुरू शक्ति रेकः ।
स ईश्वरः पातु भयादशेषात् ॥१२॥
त्रैलोक्यनाथं सरसीरुहाक्षं ।
दयानिधिं द्वन्द्वविनाशहेतुम् ॥
महाबलं वेदनिधिं सुरेशं ।
सनातनं राम महं भजामि ॥१३॥
वेदान्त वेद्यं कविमीशितारं ।
अनादि मध्यान्त मचिंत्य मायम् ॥
अगोचरं निर्मल मेक रूपं ।

नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥१४॥
मुनीन्द्र गुह्यं परिपूर्णकामं ।
कलानिधिं कलमषनाशहेतुम् ॥
परात्परं यत् परमं पवित्रम् ।
नमामि रामं महतो महान्तम् ॥१५॥
अशेषसंसारविहारहीनं ।
नारायणं निर्मलमादि देवम् ॥
नतोऽस्मि नित्यं जगदेकनाथ ।
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥१६॥
निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीहं ।
निराश्रय निष्कलमप्रपंचम् ॥
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं ।
निरन्तरं राम महं भजामि ॥१७॥
यन्मण्डलं ज्ञान घनं त्वगम्यं ।
त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ॥

समस्त तेजोमय दिव्य रूपं, ।
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१८॥
यन्मण्डलंव्याधिविनाश दुःखं ।
यदृग्यजुः साममु संप्रगीतम् ॥
प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः ।
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१९॥
यन्मण्डलं वेद विदो वदन्ति ।
गायन्ति यच्चारण सिद्धसंघाः ॥
यद्योगिनो योगजुषां च संघाः ।
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥२०॥
यन्मण्डलं सर्व जनेषु पूजितं ।
ज्योतिश्च कुर्यादिह मर्त्यलोके ॥
यत्कालकालादि मनादि रूपं ।
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥२१॥
यन्मण्डलं विष्णु चतुर्मुखाख्यं ।

यदक्षरं पाप हरं जनानाम् ।
यत्काल कलपक्षय कारणं च ।
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥२२॥
या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेषु लक्ष्मीः।
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ॥
श्रद्धा सतां कुल जनप्रभवस्य लज्जा ।
तां त्वां नतास्मि परिपालय देवि विश्वम्॥२३
देवि प्रपन्नार्ति हरे प्रसीद ।
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ॥
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं ।
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥२४॥
यस्याः प्रभाव मतुलं भगवाननन्तो ।
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तु मलं बलं च ॥
सा चंडिकाऽखिल जगत् परि पालनाय ।
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु।२५॥

हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणापि दोषै ।
र्न ज्ञायसे हरि हरादिभिरप्य पारा ॥
सर्वाश्रयाखिलमिदं जदंश भूत-
मव्याकृताहि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥२६॥
प्रातर्नमामि महिषासुरचण्ड मुण्ड ।
शुम्भासुरप्रमुखदैत्यविनाश दक्षाम् ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिमोहनशीललोलां ।
चण्डीं समस्त सुर मूर्तिमनेक रूपाम् ॥२७
ध्येयं वदन्ति शिवमेवहि केचिदन्ये ।
शक्तिं गणेश मपरे तु दिवाकरं वै ॥
रूपैस्तुनैरपि विभासि यतस्त्वमेव ।
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥२८॥
नो सोदरो न जनको जननी न जाया ।
नैवात्मजो न च कुलं विपुलं बलं वा ॥
संदृश्यते न किल कोऽपि सहायको मे ।

तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥२६॥
नोपासिता मद मपास्य मया महान्तः ।
तीर्थानि चास्तिकधिया नहि सेवितानि ॥
देवार्चनं च विधिवन्न कृतं कदापि ।
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥३०॥
दुर्वासना मम सदा परिकर्षयन्ति ।
चित्तं शरीरमपि रोगगणा दहन्ति ॥
संजीवनं च परहस्तगतं सदैव ।
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥३१॥
या कुन्देन्दु तुषार हार धवला-
या शुभ्र वस्त्रा वृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा-
या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युत शंकर प्रभृतिभि-

देवैः सदा वन्दिता ॥
सा मां पातु सरस्वती भगवती
निःशेषजाड्यापहा ॥३२॥

शुद्धांब्रह्मविचारसारपरमा-
माद्यां जगद्व्यापिनीं ।
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां-
जाड्यान्धकारापहाम् ॥
हस्ते स्फाटिक मालिकां विदधतीं-
पद्मासनेसंस्थितां ।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं-
बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥३३॥

उल्लंघ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं ।
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ॥
आदाय तेनैव ददाह लंकां ।

नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥३४॥
मनोजवं मारुततुल्य वेगं ।
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ॥
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं ।
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥३५॥
आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ।
ज्ञानस्वरूपं निजबोध रूपम् ॥
योगीन्द्रसेव्यं भवरोग वैद्यं ।
श्रीमद्गुरुं नित्यमहं नमामि ॥३६॥
बलदं सकलं मतिदं विमलं ।
सवितारमजं विनयेन विभुम् ॥
अनघं भगवन्तमनादि गुरुं ।
प्रणिपत्य नमामि नमाम्यहकम् ॥ ३७ ॥

— —

* भजन *

दीनानाथ दयानिधि स्वामी,
कौन भांति मैं तुम्हें रिझाऊँ॥टेक॥
श्रीगंगा चरणों से निकसी,
सूचो नीर कहां से प्रभु लाऊँ ।
कामधेनु कल्पवृक्ष तुम्हारे,
कौन सो पदार्थ भोग लगाऊँ ॥१॥
चार वेद तुम मुख से भाषे,
और कहा प्रभु पाठ सुनाऊँ ।
अनहद बाजे बजत तुम्हारे,
ताल मृदंग क्या शंख बजाऊ ॥२॥
कोटि भानु थारे नखकी शोभा,
दीपक ले प्रभु कहा दिखाऊँ ।
लक्ष्मी थारी चरणन की चेरी,
कौन द्रव्य प्रभु भेट चढ़ाऊँ ॥३॥
तुम तिरलोकी के कर्त्ता हर्त्ता,

तुम्हें छोड़ प्रभु कौन पै जाऊँ।
सूर श्याम प्रभु विपत विडारन,
मन वांछित फल तुमही से पाऊँ ॥४॥

भजन नं० २

मन परदेशी हो ये नहीं अपना देश ॥टेक॥
सत् का कहना सत् में रहना,
आनन्दरूप किसी का भयना।
जो कोई कह सभी की सहना,
ये ही रटन हमेश ॥१॥
गुरु का बचन सत्य कर मानो,
जगत जाल झूठा कर जानो।
तत्त्वमसिका रूप पिछानो,
कट जाय करम कलेश ॥२॥
जो दीखे सो रूप हमारा,
कोई नहीं है हम से न्यारा।
मित्र और शत्रु कोई न हमारा,
मिट गये राग और द्वेष ॥३॥

शाह गुरु शुकदेव विराजे,
चरणदास चरणों में साजे।
गुरु के बचन कभी नहीं त्यागे,
यही सत्य उपदेश ॥४॥

भजन नं० ३

शिव शिव रटत मन आनन्द ॥ टेक ॥
जाके सुमरत विघ्न विनशत, कटत यमको फन्द ।
तीन नेत्र विशाल झलकत, तिलक माथे चन्द ॥
ओढ़ना बाघम्बरा शिव, भणत छवि मकरन्द ।
भूत प्रेत वेताल जगम, लिये फिरे शिव संग ॥
वृषभ वाहन रुचि धतूरा, भोगता विष भंग ।
पारवति पति शरण की गति, सूर मन आनन्द ॥

भजन नं० ४

महरम हो सोई जाने भाई साधो,
ऐसा देश हमारा है रे ॥टेक॥
बिन बादल बिजली वहां चमके,
बिन सूरज उजियारा है रे ।

बिना नयन वहां मोती पिरोवें,
बिन स्वर शब्द उचारा है रे ॥ १ ॥
भँवर गुफा में अनहद बाजे,
मुरली बीन सितारा है रे ।
निरमल बूँद मिली दरिया में,
नहीं मीठा नहीं खारा है रे ॥ २ ॥
जात वरण वहां सूझत नाहीं,
ना वहां बेद विचारा है रे ।
वहां जाय ब्रह्म बन बैठे,
कहन सुनन से न्यारा है रे ॥ ३ ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पहुंचेगा पहुंचन हारा है रे ।
इस पद को जो समझत बूझत,
अलख लखे सोई प्यारा है रे ॥४॥

भजन नं० ५

अजी एजी साधो सहज समाधी भली,
गुरु प्रताप भयो जा दिन से श्रुति अनन्त चली ॥टेक

आंखन मूँदूँ कानन रूँधूं काया कष्ट न धारूँ ।
खुले नयन मैं हँस हँस कर देखूँ सुन्दररूप निहारूँ ॥१॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमरण खाऊँ पीऊँ सो पूजा ।
गृह उद्यान एक सम जानो भाव मिटाया दूजा ॥२॥
जहां जहां जाऊँ सो परि करमा जो कुछ करूँ सो सेवा ।
जब सोऊँ तो करूँ दण्डवत् पूजूँ और न देवा॥३॥
कह कबीर यह अन मन रहनी सो प्रकट कर गाई ।
सुख दुःखसे परे प्रेम सुख ताही में रह्यो समाई॥४॥

भजन नं० ६

जिसको तू नर तन मानत,
वह आप रूप भगवान् है ॥ टेक ॥
अहंकार ने जब से घेरा,
कहने लगा मेरा और तेरा ।
भूल गया निज रूप अनेरा,
तू सर्वज्ञ सुजान है ॥१॥
मैं हूँ देह देह है मेरी,
केवल यही भूल है तेरी ।

पांच तत्त्व की यह तो ढेरी,
ज्ञान क्यों भया अजान है ॥२॥
बुरी भली करनी जब करे है,
बन्धन में तभी तो पड़े है।
निष्क्रिय को नहिं कछू डर है,
तोहे कर्म की आन है ॥३॥
सत् चित् आनन्द भाव सभारो,
पांच कोश ते होवा न्यारो।
नाम रूप कुछ नाह निहारो,
यही तो निर्मल ज्ञान है ॥४॥

भजन नं० ७

जो कोई चित्त से मोहे ना बिसारे,
मैं ना बिसारूँ प्रण है यही मेरा ॥टेक॥
धर्म प्रिय हो धर्म बढ़ाऊँ,
सफल कार्य कर अर्थ बनाऊँ।
मुक्ति चाहे तो पार लगाऊँ,
पल छण माहिं न लागत बेरा ॥४॥

रोग हरूँ चिन्ता सब टारूँ,
अभय करूँ शत्रुन को मारूँ।
अचल भक्त मन वेग उबारूँ,
सेवा करूँ आप बन चेरा ॥२॥
मेरा नाम भगत सुख दायक,
सदा विपत्ति में होत सहायक।
जो कोई रटत कृष्ण यदुनायक,
ताके हृदय करत नित डेरा ॥३॥

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं,
नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव,
ओंकाराय नमो नमः॥

'अथ योगानुशासनम्'

अब योग शास्त्र का वर्णन किया जाता है जिस में साधनों की ऐसी सुगम रीति वर्णित है, जिसके

थोड़े से अभ्यास से मनुष्य की अन्तर्दृष्टि इतनी बढ़ जाती है कि वह दूर २ के शब्द सुन सकता है, दूसरे के चित्त के हालात को जान सकता है। और भी असाधारण शक्तियां सब मनुष्यों से कहीं बढ़कर प्राप्त कर, मनुष्य सम्पूर्ण क्लेशों से छूट, कर्म के बन्धन को काट, आत्मज्ञान और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

'योगश्चित्तवृत्तिर्निरोधः'

चित्त की वृत्ति को रोकने का नाम योग है। चित्त उसका नाम है जिससे मनुष्य को बाह्याभ्यन्तरके विषयों का ज्ञान होता है। 'चिति संज्ञाने' धातु से बना है। इसको अन्तःकरण भी कहते हैं। वेदान्त में इसकी चार शक्तियां मानी हैं। प्रथम वह जिसके द्वारा मनुष्य इन नेत्रों से वा इन्द्रियों से साधारण रूप देखता है, वा जानता है। दूसरी वह शक्ति जिससे पदार्थों के विशेष धर्मों का ज्ञान होता है और एक पदार्थ दूसरे से भिन्न प्रतीत

होता है जैसा कि आम से अनार । तीसरी वह शक्ति जिसके द्वारा पदार्थों में भिन्न भाव समझ उसको अपना या पराया बना लेता है। जैसे कि फल मेरे हैं। चौथी वह शक्ति जिसके द्वारा वस्तु के गुण वा अवगुण, उत्तमता और अधमता आदि जानी जाती हैं। जैसे कि आम खट्टा होता है, पित्त-कारक है. अनार शीतल है पित्त को शान्त करता है। चित्त (अन्तःकरण) का साधारणरूप से कोई आकार नहीं होता। इसका धर्म है कि जिस पदार्थ के साथ इसका सम्बन्ध होता है उसी का रूप धारण कर लेता है, तब ही जीव को विषयों का ज्ञान होता है। सो इसमें सिद्ध हो गया कि जबतक यह चित्त किसी पदार्थ का आकार पूर्णरूप से धारण नही करता तब तक उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। मनुष्य को इसलिये चित्त को सब ओर से खींचकर अपने लक्ष्य विषय की ओर लगाना चाहिये। जिस समय चित्त सांसारिक विषय भोगने की अभिलाषा में इधर उधर भ्रमण

करता है और स्थिर नहीं रहता उस समय इसमें रजोगुण प्रधान होता है। इसलिये महात्माओं ने उस अवस्था को रजोगुणी माना है, इसी प्रकार जब इसमें तमोगुण प्रधान होता है तो उस समय मनुष्य अज्ञानी और मूर्ख हो जाता है। मानों काम क्रोध लोभ मोह के वशमें हो ऊपर की अवस्थाओं के लक्ष को भूल जाता है। इस तमोगुणी अवस्था में पारलौकिक विषयों का ज्ञान नहीं होता। हां सत्व-गुणी में लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयोंका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जब तक इन तीनों अव-स्थाओको उल्लंघन न कर लें तबतक जीव अपने स्वरूपको नहीं देख सकता। इन गुणों का प्रभाव मनुष्यों में भिन्न २ होता है, कई एक मनुष्य आत्म-ज्ञान के अधिक प्रेमी होते हैं, बहुत से संसार के पदार्थ में मग्न रहते हैं और कई एक उभयतः भ्रष्ट होते हैं और मस्त पड़े रहते हैं, कई उदारचित्त होते हैं, कई द्रव्य के ऐसे प्रेमी होते हैं कि पैसा भी नहीं खर्च सकते- और बहुत से दूसरों को दुःख

देने में तत्पर रहते हैं, बहुत से चञ्चलस्वभाव और सन्तोषी और गम्भीर होते हैं, और कई एक सुस्त, अधम श्रेणी के होते हैं। यह गुण बाल से वृद्ध तक पाये जाते हैं। जब सत्व गुण प्रधान होता है तब भिन्न भिन्न पदार्थों में अनन्त अविनाशी एक ही परमात्मा देव प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए वह सबके साथ प्रेम दया और न्यायपूर्वक बर्ताव करता है। फलकी इच्छा छोड़ निष्काम भाव से परोपकार के लिए सदा तत्पर रहता है, बरंच इसी लिये दूसरों को भी यही उपदेश करता है और हानि-लाभ, तथा सुख-दुःख, वा स्तुति-निन्दा में, समचित्त रहता है। सतोगुणी पुरुष अभिमान-रहित, स्वतन्त्र, निर्भय, शूरवीर होता है और सब कार्यों को निज धर्म जानकर करता है। भगवान गीता में कहते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्यमित्युत:

जब इस देह के सब द्वारों में अर्थात् इन्द्रियों में ज्ञानरूपी प्रकाश का प्रवाह बढ़ जाता है, तब यह समझना चाहिए कि सत्व गुण बढ़ रहा है। रजोगुणी भेदवादी होता है। सर्व जीवों को भिन्न भिन्न जानता है। वह उसके पेटमें तन्तुओं के समान सर्वशक्तिमान, अव्यय, अनन्त पुरुष का रूप नहीं देखता है जो समस्त जीवों में एक है। इसीलिये वह अहंकार से अपनेको ज्ञानी मानता है, वह स्वार्थ के बन्धन में फँसकर दूसरे के साथ बेपरवाही से बर्ताव करता है, रजोगुणी अभिमानी है, फलकी लालसा से काम करता है, धनका बड़ा स्नेही होता है और अपने कार्यकी सिद्धि से सन्तुष्ट और हानि से महा दुःखी होता है भगवान् गीता में कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमस्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभः ॥

हे भारतकुलतिलक ! रजोगुण के बढ़ जाने से

लोभ, अर्थात् धनादिक अधिक होने पर भी उन्हें और बढ़ाने की इच्छा करता है। अर्थात् संकल्पों के रोकने की अध्यासता और स्पृहा, अर्थात् विषयों के भोगने की इच्छा आदि लक्षण मनुष्य में प्रकट होते हैं। तमोगुणी का चित्त संसार के भोगों में मग्न और आत्मविचार से विमुख रहता है। इसके विचार अधम और तुच्छ होते हैं। तमोगुणी जब कोई काम करता है तो उसके शुभाशुभ फलका ज्ञान उसको नहीं होता और न यह समझ सकता है कि जिस कार्य को मैं करने लगा हूँ मैं इसके योग्य हूँ वा नहीं, मानों उससे हर एक काम में मूढ़ता होती है। तमोगुणी अतीव लोभी होता है और स्वार्थ-सिद्धि के लिये दूसरे के कामको बिगाड़ भी देता है। वरंच अपने कार्य की सिद्धि हो या न हो परन्तु दूसरेकी हानि करके अतीव प्रसन्न होता है, और आप निरुद्यमी और आलसी होता है। जैसा गीता में कहा है—

अप्रकाशो प्रवृत्तिश्च प्रमादो मोहमेव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़ जाने से विवेक क हानि निरुद्यमता, कर्तव्य को ढूँढ़ने से हिचकना और व्यर्थ एकचित्तता आदि चिह्न मनुष्य में उत्पन्न होते हैं और जब तीनों गुणों को साम्य अवस्था में ले जाता है तब मोक्ष हो जाता है। जिस प्रकार आदर्श अर्थात् शीशे में मुखको न दीखने के तीन विघ्न होते हैं, मल, उसका मैला होना, दूसरे दर्पण और मुख के बीच में परदा होना तीसरे विक्षेप अर्थात् बार २ हिलना, इन दोषों के कारण कोई मनुष्य भले प्रकार दर्पण में अपना मुख नहीं देख सकता, इसी तरह अन्तःकरणके मल आवरण और विक्षेप के होने से अपने प्यारे परमात्मा को कोई भी नहीं देख सकता है परन्तु जब निष्कामों द्वारा मल जो पाप है उनको नष्ट कर देता है और उपासना द्वारा विक्षेप अर्थात् चञ्चलता और जीवब्रह्म

के एकत्व ज्ञान द्वारा आवरण जो अविद्या है उसका उच्छेद करता है, तब वह बहुत दिनों का भूला हुआ अनन्त अपार सच्चिदानन्द स्वरूप अपने आप स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। इसलिये चित्त की वृत्ति अर्थात् तबदीलीको रोकना चाहिए जब यह चित्तवृत्तिका निरोध करता है तदा—

'दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

चित्त की समस्त वृत्तियों के रुक जाने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। चित्त झील के स्वच्छ, शुद्ध और स्थित जल के समान है। जैसे पवन के चलने से उसमें लहर उठने लगती हैं और उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाया नहीं देता। इसी प्रकार चित्त में राग द्वेषादि की लहरें उठने से अपना स्वरूप प्रतीत नहीं होता और जैसे जलके स्थित होने पर उसमें मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब भली भांति देखता है। ठीक इसी प्रकार जब चित्त से भी राग द्वेषादि की तरंगे

रुक जाती हैं तो उस समय जीव अपना रूप देखता है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

निरोधावस्था के बिना अन्य अवस्था में द्रष्टा चित्त की वृत्तियों को धारण कर लेता है अर्थात् जब योगी योग अवस्था में नहीं होता तब उसका चित्त विषयों के साथ सम्बन्धित होने से वृत्ति रूप भासता है और उसके मलिन होने से मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं देख सकता है। इसीलिये इस अवस्था में द्रष्टाको वृत्ति रूप कहते हैं। परन्तु वास्तव में जैसा कि स्फटिक मणि समीप रक्खे पदार्थों के रंग में रंगा हुआ दिखाई देता है वास्तव में उसके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं होता। इसी प्रकार द्रष्टा भी वृत्तियों के प्रतिबिम्ब से वृत्तिरूप भासता है, परन्तु वास्तव में उसमें कुछ भी भेद नहीं होता।

'वृत्तयः पंचतयः 'क्लिष्टाऽक्लिष्टा'

वृत्ति अर्थात् चित्त की परिणाम-तबदीली

पांच प्रकार की होती है। और प्रत्येक परिणाम दुःखदायक और अक्लिष्ट सुखदायक भेद से दो प्रकार का है। अर्थात् दृश्य पदार्थ असंख्य होने से चित्त की वृत्तियां भी असंख्य होती हैं। इन असंख्य वृत्तियों को पांच भागों में विभक्त किया है और फिर उन पांचों भागों को क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से द्विविध माना है। जिस वृत्ति में आत्म विचार और ईश्वर ध्यान हो और जो सत्व रज, तम, तीनों गुणों से रहित हो उसे अक्लिष्ट वृत्ति कहते हैं। इससे विपरीत क्लिष्ट वृत्ति कहलाती है। क्लिष्ट वृत्तियों को अक्लिष्ट वृत्तियों से रोका जाता है और अक्लिष्ट वृत्तियां परा वैराग्य से रोकी जाती हैं—

'प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः'

वृत्तियों के नाम यह हैं-प्रमाण सत्य ज्ञान उत्पन्न करने वाली वृत्ति, विपर्यय मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने वाली वृत्ति, विकल्प कल्पित ज्ञान उत्पन्न करने वाली वृत्ति, निद्रा ज्ञान रहित वृत्ति

और स्मृति सुने हुए वा देखे हुए पदार्थों का स्मरण करने वाली वृत्ति । मनुष्य जीवन का मुख्योद्देश्य ज्ञान को प्राप्त करना है। और वह ज्ञान उक्त वृत्तियों के बिना होना असंभव है।

'तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि'

प्रमाण वृत्ति प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भेद से तीन प्रकार की है। अर्थात् प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान, निश्चयात्मक ज्ञान केवल निम्न-लिखित रीतियों से होता है-चित्र का स्थूल वा सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय पदार्थ के साथ सम्बन्धित हो जाने पर पदार्थ का ज्ञान होता है। ऐसे समय में चित्त की वृत्तियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और जब ज्ञेय पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जा सके तब उसके गुण वा लक्षण को ग्रहण करके सोचने से उक्त पदार्थ का बोध होता है। ऐसी अवस्था में चित्तज्ञान जाने हुए पदार्थों के गुणों से ज्ञेय जानने योग्य पदार्थों के गुणों के सम्बन्ध को सोच कर अपने लक्ष्य को विजातीय

पदार्थों से भिन्न और सजातीय पदार्थों से युक्त करता है। जैसे कि दूसरे किसी स्थान में धुआं देख कर यह निश्चय होता है कि वहां अग्नि अवश्य होगी क्योंकि अग्नि के विना धुआं कभी नहीं होता। तथा किसी प्रकार का शब्द सुनने से प्रतीत होता है कि इसमें आकाश-पोल विद्यमान है। क्योंकि शब्द आकाश ही का गुण है। ऐसे समय में चित्त की वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं और जब ज्ञेय पदार्थ और उसके लक्षण तथा गुण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जांय तब उसका वर्णन सत्यवेत्ता ऋषिप्रणीत आर्षग्रन्थों के पढ़ने से होता है। ऐसे समय में चित्त की वृत्ति को आगम प्रमाण करते हैं। इन तीनों प्रमाणों को जिनसे बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है पतञ्जलि महर्षि ने क्लिष्ट प्रमाण कहा है। परन्तु आभ्यन्तरिक विषयों का ज्ञान बढ़ने से जिससे ईश्वर में प्रेम और भक्ति बढ़ती है ये ही तीनों अक्लिष्ट प्रमाण हो जाते हैं।

'विपर्यय मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'

विपर्यय उस वृत्ति को कहते हैं जिससे मिथ्या ज्ञान उदय हो और ज्ञेय वस्तु का यथार्थ ज्ञान न जाना जा सके। इसी वृत्ति के द्वारा प्रायः मनुष्य का श्वेत रेत में, जल-सीपी में चांदी की भांति सम्पूर्ण ज्ञान भ्रान्ति रूप हो जाता है।

'शब्द ज्ञानानुपाति वस्तुशून्यो विकल्पः'

विकल्पवृत्ति उसको कहते हैं जिसमें शब्द मात्र के सुनने से ही ज्ञान भासता है। वास्तव में ज्ञेय वस्तु कुछ भी नहीं। जैसा कि शश शृंग या वन्ध्या अर्थात् बांझ के पुत्र शब्द, सुनकर भ्रम होता है कि शशके सींग और बांझ के पुत्र होते होंगे परन्तु वास्तव में नहीं होते-

'अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा'

निद्रा चित्त की उस वृत्ति को कहते हैं जिसमें मनुष्य को अभाव प्रत्यक्ष हो। प्रत्यक्ष शब्द से बाह्य वस्तुओं का प्रतिबिम्ब जो चित्त ग्रहण करता

है, तात्पर्य है और प्रतिबिम्बों के अभाव को अभाव प्रत्यय कहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को ऐसा प्रतीत होता है कि मुझको किसी का ज्ञान नहीं, परन्तु इतना अवश्य जानता है कि मैं हूं जैसा कि घोर निद्रा से जागकर मनुष्य यह कहता है कि मैं आज बड़े आनन्द से सोया। आनन्द से सोने का स्मरण ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। सत्यगुण प्रधान होने से इन्द्रियों में शिथिलता और बुद्धि अन्तर्मुख हो जाती है, और सांसारिक विषयों में उसकी आसक्ति नहीं रहती। वरञ्च उसका अभाव प्रतीत होता है इस वृत्ति को अक्लिष्ट निद्रा कहते हैं। यह वृत्ति महात्मा जनों में पायी जाती है जैसा कि कबीर जी कहते हैं—

जागन से सोवन भला, जो कोई जाने सोय।
अन्तर लौ लागी रहे, सहजे सुमरण होय॥
जागन में सोवन करे, सोवन में लौ लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट नहीं जाय॥

'अनुभूत विषया सम्प्रमोषः स्मृतिः'

जिस वृत्ति से मनुष्य अनुभूत विषयों को न भूले उसे स्मृति कहते हैं। चित्त की वृत्तियों से प्रमाण विपर्यय विकल्प जागृत अवस्था में होती है। जब इनमें से किसी वृत्ति का नींद में स्मरण हो तो उसको स्वप्न कहते हैं। सुषुप्ति में इनका अभाव होता है—

'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः)

चित्त की पांचों वृत्तियों को रोकने के लिये अभ्यास और वैराग्य दो साधन हैं जैसा कि गीता में कहा है।

चित्त की प्रत्येक वृत्तियां सुख वा दुःख से उत्पन्न होती हैं और सुख दुःखादि का कारण राग होता है इसलिये वैराग्य से तो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है और अभ्यास द्वारा उस निरोध अवस्था में दृढ़ता अथवा चिरकाल तक रहने की स्थिति प्राप्त की जाती है।

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'

निरोध अवस्था में स्थिति प्राप्त करने के लिये यत्न करने को अभ्यास कहते हैं। अर्थात् स्थिति उस अवस्था को कहते हैं जिस अवस्था में चित्त वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की शिखा के समान प्रशान्त और स्थिर रहे ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिये उत्साह पूर्वक बारंबार यत्न करने को अभ्यास कहते हैं। परन्तु वह अभ्यास इस प्रकार किया जाता है—

'सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः'

नित्य निरन्तर चिरकाल तक भक्ति द्वारा यत्न करने से अभ्यास दृढ़ होता है। बारंबार किसी कार्य में यत्न करने से यह काम स्वाभाविक हो जाता है, फिर बिना यत्न वह कार्य होने लगता है और स्वभाव ऐसा दृढ़ हो जाता है कि फिर इसका पलटना बिना परिश्रम के असम्भव है। किसी स्वभाव के उत्पन्न करने में जितना पुरुषार्थ आवश्यक है

उसके छोड़ने में उससे भी अधिक पुरुषार्थ आवश्यक होता है। इसीलिये किसी मुमुक्षु को कुछ काल साधन करके कुछ प्राप्ति न हो तो उसे निराश न होना चाहिये, वरञ्च धीरज धर, परिश्रम सहित यत्न करते रहना चाहिये। क्योंकि योग अवस्था में दृढ़ता की प्राप्ति के लिये सूत्र में तीन बातें लिखी हैं-

'दीर्घकाल सेवितः'

दीर्घकाल तक यत्न करना चाहिये।

'नैरन्तर्य सेवितः'

यत्न निरन्तर व्यवधान-रहित होना चाहिये। कभी कभी करने से उद्देश्य सिद्धि नहीं होती। आरम्भ में प्रतिदिन नियत समय पर करना चाहिये और पीछे ऐसा स्वभाव डालना चाहिये कि प्रतिक्षण हर समय सांसारिक काम करते हुए भी लौ परमात्मा में लगी रहे। जिससे कोई क्षण भी परमात्मा के चिन्तन के बिना न जाये। यदि कोई कहे कि एक काल में दो कार्य करना, बाहर काम और अन्दर

लौ लगना, असम्भव है, तो उसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश देता है परन्तु अपने स्थान से कभी विचलित नहीं होता. इसी प्रकार ओस चाटते समय सर्प की मणि में, पानी भरने वाली स्त्री की घट में, गौ की बछड़े में, नटनी की अपने शरीर में, गर्भवती की अपने गर्भ में लौ लगी रहती है ! इसी प्रकार मुमुक्षु के वास्ते सब काम करते हुये भी अपना ध्यान हृदय-स्थान में लगाये रखना असम्भव नहीं। वरञ्च जैसे २ अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे वैसे ही सम्भव प्रतीत होने लगता है। तीसरे यत्न सत्कार सेवित अर्थात् भक्ति और श्रद्धा पूर्वक होना चाहिये यह बात सब जानते हैं कि संसार में तब तक कोई काम सिद्ध नहीं होता, जब तक कि वह प्रेम पूर्वक तन, मन और धन अर्पण करके न किया जाय। अब विचार का समय है कि मोक्ष जैसी महापदवी प्रेम और विश्वास बिना कैसे प्राप्त हो सकती है। इसलिये विद्या से उत्पन्न हुये केवल

धर्म भाव से ही नहीं वरञ्च प्रेम भाव से युक्त हो अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि धर्म से प्रेम में अधिक सामर्थ्य मानी । जो कार्य धर्मभाव से सिद्ध नहीं होते वे प्रेम-भाव से शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं। इसी कारण योगशास्त्र में इस बात पर बड़ा बल दिया है कि मुमुक्षु में ज्ञान और भक्ति दोनों होनी चाहिये। गुरु परमात्मा के तुल्य हैं और उनके नाम की उपासना करना परमात्मा की ही उपासना करना है और गुरु मनुष्य नहीं हैं। कबीर महात्मा कहते हैं—

गुरु को मानस जानते, ते नर कहिये अन्ध।
होय दुखी संसार में, आगे यम का फन्द॥

महानारायण उपनिषद् में कहा है-मन्त्र परमात्मा को कहते हैं, और जब मन्त्र का अर्थ परमात्मा होता है तो सत् चित् आनन्द इन तीनों अक्षरों से एक 'ओ३म्' का ध्यान करे तो मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। और भी कहा है कि स्फटिक मणि की न्याई शुद्ध प्रकाश, धूएं जैसा श्वेत रक्त वा तारे

के समान, वा जुगनू दीवे के समान, स्वर्ण वा नौरत्न के प्रकाश के समान, अन्तर हृदयाकाश में प्रतीत होता है। इसी का नाम प्रणव है यह प्रकाश ही सब से उत्तम मन्त्र है। और यह मन्त्र न किसी अक्षर से बना है। इसका अनुभव ऋषि मुनि समाधि-अवस्था में करते आये हैं। आन्तरीय और बाह्य इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जाता। इस प्रकाश में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं और मन बुद्धि का कार्य शिथिल हो जाता है। यह मण्डालोपनिषद् में कहा है परन्तु इस ध्यान में वैराग्य आवश्यकीय साधन है सो यह वैराग्य दो प्रकार का होता है।

'द्रष्टानुश्राविक विषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

सर्व वासना वश करने के अन्तर जो अवस्था लौकिक और पारलौकिक विषयों से विरक्त होने के कारण मुमुक्षु के हृदय में उत्पन्न होती है उसे

वैराग्य कहते हैं। अर्थात् सर्व पदार्थ दृष्ट और अनुश्राविक भेद से द्विविध होते हैं। संसार के समस्त पदार्थों को दृश्य कहते हैं। इसी में आन्तरिक वासना अर्थात् मान और बड़ाई भी गिने जाते हैं। अनुश्राविक उन विषयों को कहते हैं जो स्थूल इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जाते हैं, और जिनका वर्णन वेदों और अन्य शास्त्रों में पढ़ते हैं, वा गुरु-मुख द्वारा सुनते हैं। इसमें स्वर्गादि सुख-ऋद्धि सिद्धि के प्राप्ति के विषय भी गिने जाते हैं। जब मुमुक्षु, उक्त पदार्थों की वासना त्याग यह निश्चय कर लेता है कि अब मैं विषय वासना के अधीन नहीं हूं। मेरा आनन्द किसी पदार्थ के परायण नहीं है। अर्थात् मैं परतन्त्र नहीं हूं। वरञ्च यह सब मेरे आधीन है। मैं स्वयं स्वतन्त्र हूं। तब वह मुमुक्षु वैरागी कहाने योग्य हैं। यह स्मरण रहे कि विषयों के त्याग को ही केवल वैराग्य नहीं कहते। इसलिये जो मनुष्य घर बार छोड़ जंगल में जा बैठते हैं और वासना को नहीं जीतते वह कभी

योग साधन के योग्य नहीं बनते। यथार्थ वैरागी वही है जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य और भोगों के बीच में रहकर अपनी ममता को दूर करें। इस प्रकार के वैराग्य को अपरा वैराग्य कहते हैं और जब इसमें वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो मुमुक्षु को अनुभव ज्ञान होने लगता है। और सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। दूसरे परा वैराग्य।

'तत् परमपुरुषख्याते गुण वै तृष्णयम्'

परा वैराग्य उसे कहते हैं जिसमें मुमुक्षु को पुरुष का ज्ञान हो जाने से प्रकृति के गुणों की लेशमात्र भी इच्छा नहीं रहती, अपरा वैराग्य से प्राप्त होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि में मुमुक्षु को अस्मद् भाव रहता है। परन्तु परा वैराग्य से प्राप्त होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि में यह अस्मद् भाव भी नहीं रहता। जो प्रकृति के तत्व गुणकी अति सूक्ष्मावस्था है। और ध्यानी ईश्वर में ऐसे लीन हो जाते हैं जैसे जल के बूँद समुद्र में। इस अवस्था में ध्यान ध्येय और ध्याता एक हो जाते हैं।

'अथ भक्ति मार्गम्'

इन्दीवरदलश्यामिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देहं यदुनन्दनम् ॥

सच्चिदानन्देश्वराय नमः । सच्चिदानन्द आनन्दकन्द असुरारि वनविहारी भगवान् की प्राप्ति के लिये भक्ति ही एक मुख्य साधन मानी गयी है। और सब साधन गौण माने गये हैं। यदि वास्तविक देखा जाय तो यही विदित होता है कि जब तक आत्मा परमात्मा के साथ एक न हो जाय अर्थात् जब तक उसकी इच्छा के आधीन न हो जाय तब तक जीवन में कोई भी आनन्द नहीं। अपनी वासना स्थूल हो वा सूक्ष्म किंचित् भी नहीं रहनी चाहिये। केवल परमात्मा की इच्छाको परम इच्छा समझकर उसको पालन करना और अपने मिथ्या अहं का उसमें विस्मरण करना ही अन्तिम पद वा मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। भगवत् को छोड़ किसी वस्तु का आश्रय न लेना किन्तु तन

मन प्राण और आत्मा को भगवत् से उत्पन्न हुए जान और उसी के आधार समझ उसी में लीन कर देना ही जीवनका लक्ष्य है। कोई कर्म करे वह भगवत् अर्पण हो, ऐसे भक्तियोग द्वारा व्यवहार और परमार्थ में कुछ अन्तर नहीं रहता। वह जीवन-मुक्त हो जाता है। सो उस भक्ति का संक्षेपतः विवरण आप लोगोंके हस्तगत किया जाता है। सच्चे प्रेम से पढ़ो।

वृन्दारण्ये तपनतनयातीरवानीरकुञ्जे,
गुंजन्मंजुभ्रमरपटलीकाकलोकेलिभाजि ।
आभीराणां मधुरमुरलीनादसम्मोहितानां,
मध्येक्रीडन्नवतु नित्यं नन्दगोपाल बालः ॥

'भज्' सेवायां धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से क्तिन् प्रत्यय होता है 'हलन्त्यम्' इस सूत्रसे नकार की 'लशकतद्धिते' इससे ककार की इत् संज्ञा हुई 'चोः कुः' करके जकार को गकार और 'खरि च' से ककार करके भक्ति शब्द सिद्ध होता है। भक्ति मार्ग

का आरम्भ करते हुए नारद भक्ति सूत्र में भक्ति का स्वरूप इस भांति वर्णन करते हैं। सूत्रः—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' ॥१॥

भक्ति का अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है।

'मूकास्वादनवत्' ॥ २ ॥

गूँगे के स्वाद की भांति उसका आनन्द वर्णन नहीं किया जा सकता यथा श्रुतिः—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशयन्नात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा ततः,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधि के द्वारा चित्त के मल छूट जानेपर, परमेश्वरमें चित्त के लग जाने पर जो सुख होता है वह वाणी से कहा नहीं जाता क्योंकि आत्मा उस को स्वयं शुद्धान्तःकरण से ग्रहण करता है।

'अमृत स्वरूपा शान्तस्वरूपा च'॥३॥

और भक्ति का अमृत स्वरूप शान्ति स्वरूप

है। पराशर का मत है कि ईश्वर-पूजादि में अनुराग करना भक्ति है। गर्ग कहते हैं कथा आदि में अनुराग होने का नाम भक्ति है। शाण्डिल्य का मत है कि आत्मा में निरन्तर रति करना भक्ति है। परन्तु नारदजीके मतानुसार ईश्वर में सब आचारों का अर्पण कर देना और ईश्वर के स्मरण में परम व्याकुल होना भक्ति है। यथार्थ में है भी यही, परन्तु इसमें एक आवश्यक अंश और है और वह यह है कि जिसकी भक्तिकी जाय उसके माहात्म्य का ज्ञान रहे। अर्थात् उसकी श्रेष्ठताका सदैव स्मरण रहे कि विना भक्ति एक व्यभिचारियों के प्रेम के बराबर है। कर्म ज्ञान और योग से भक्ति बढ़कर है। क्योंकि कर्म ज्ञान और योग तो साधन ही हैं और भक्ति फलस्वरूप है। किसी किसी का मत है कि भक्ति के लिये ज्ञान होना भी आवश्यक है, और भक्ति और ज्ञान एक दूसरे पर अवलम्बित हैं परन्तु नारदजी ज्ञान को आवश्यक नहीं समझते हैं। क्योंकि भोजन का ज्ञान होने से क्षुधा तृप्त नहीं

होती। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान होने से भक्ति नहीं हो जाती है। क्योंकि भक्ति हृदय के प्रेम का विषय है और ज्ञान बुद्धि का।

अब भक्ति नौ प्रकार की बतलाई है यथाः—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

१ ईश्वर के गुण और माहात्म्य सुनने की भक्ति २ ईश्वर के नामकीर्त्तन की भक्ति, ३ स्मरण करने की भक्ति, ४ कान्ताभाव की भक्ति, ५ पूजा की भक्ति, ६ वन्दन करने की भक्ति, ७ दास्यभाव की भक्ति, ८ सखाभाव की भक्ति, ९ आत्मनिवेदन की भक्ति, और भी कहा हैः—

श्री विष्णोः श्रवणे परीक्षदभवद्वैयासकी कीर्त्तने, प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मी पृथुः पूजने। अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येथ सख्येऽर्जुनः, सर्वस्वात्म-निवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषा परा॥

भगवान् को श्रवण करने में परीक्षित हुआ। वैयासिकी कीर्त्तनमें, प्रल्हाद स्मरण करने में, लक्ष्मी भगवान् की सेवा में, पृथु पूजने में, अक्रूर वंदना करने में, महावीर दासपने में, अर्जुन मित्र भाव में और सब कुछ अपना भगवान् के अर्पण करने में बलि हुआ। गोपियों की भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र में परम विरह की भक्ति थी। एक समय श्रीकृष्ण मथुरा को जाने लगे तो एक सुकेती नाम की गोपी कहने लगी कि महाराज, मेरे स्थानपर पधार कर मुझे भी कृतार्थ करें। यह सुन कर कभी प्रेम में मग्न हो जायेंगे इस भांति से बिना मिले ही चले गये। तो सुकेति विरहाग्नि से दग्ध होकर भस्मीभूत हो गई। तो श्री नन्दनन्दन भक्तवत्सलने भक्तों की पीड़ा को न सहते हुए सुकेति की भस्म राशि के समीप आकर विचार किया कि मेरी प्यारी की भस्म को अंग में लगाकर गंगा में स्थापित कर देऊँ तो कुछ विरहाग्नि शान्त होवे। यह समझकर प्यारे ने भस्म का रूप धारण करके सुकेतिकी भस्म

अंग में लगाकर गंगा में गोता लगाकर आवृत्ति की तो चार गोपियां इस चरित्र को देखकर कहने लगीं। चन्द्रिका नाम की गोपी ने कहाः—

बाग नहीं बाड़ी नहीं नहीं फूल परसंग ।
भ्रमर बावरो हो रह्यो भस्म रमावत अंग ॥

यह सुन सुमति नामकी गोपी ने कहा किः—

कदेक होती केतकी बसतो वाके संग ।
भ्रमर बावरो हो रह्यो भस्म रमावत अंग॥

फिर चन्द्रभागा नाम की गोपी ने कहा किः—

होतो तो रहतो नहीं जरतो वाके संग ।
कपट प्रीति के कारणे भस्म रमावत अंग ॥

फिर चन्द्रकान्ता नामकी गोपी ने कहाः—

होतो तो रहतो नहीं जलतो वाके संग ।
प्रीति पुरानी कारने भस्म रमावत अंग ॥

अतएव गोपियों की भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें जैसी भक्ति थी उस भक्ति के लिये ब्रह्मादिक भी भटकते रहते हैं। कबीरजीने कहा हैः—

'एक गोपी के प्रेम में बह गये कोटि कबीर' भगवान ने भी कहा है कि 'मुझे न ब्रह्मा न शिव न कोई और देवता प्यारे हैं जैसी कि मुझे ब्रज की गोपी प्यारी हैं। शुकदेव जी कहते हैं।

तासां तपाः किं कथयानि राजन्,
पूर्णे परे ब्रह्मणि वासुदेवे।
याश्चक्रिरे प्रेम हृदिन्द्रियाद्यैः,
विसृज्य लोकं व्यवहार मार्गम्॥

हे राजन्! जिन्होंने लोक और व्यवहार-मार्गको छोड़ पूर्ण परब्रह्म वासुदेव में अपने मन और हृदय को लगा लिया है उनका तप मैं क्या कहूँ। उपनिषद् में भी कहा है:—

भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्ष विघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान्त्सर्वान्परिपालयति

भक्तवत्सल स्वयं ही सब मोक्ष के विघ्नों से भक्ति निष्ठावालों की पालना करते हैं 'सर्वाभीष्टा-प्रयच्छति' सब अभीष्टोंको देते हैं 'मोक्षं दापयति'

मोक्ष दिलाते हैं 'चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते' चतुर्मुखादि देवताओंकी भी विना विष्णु भक्ति के करोड़ कल्पोंमें भी मोक्ष नहीं हो सकती। कारणेन विना कार्यं नोदेति' कारण के विना कार्य नहीं होता 'भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते' भक्ति के विना ब्रह्मज्ञान भी कदापि नहीं होता 'तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय' अतएव तू भी सब उपायों को परित्याग करके भक्तिका आश्रय कर 'भक्तिनिष्ठो भव' भक्ति में विश्वास कर 'भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति' भक्ति से सारी सिद्धियां सिद्ध होती हैं। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति' भक्ति से असाध्य किंचित् भी नहीं हैं। नकुल कहते हैं जो कालरूपी फांसी के बन्धन में पड़के नरक में गमन होय और जो कुलहीन पक्षी कीट आदि योनियों में जन्म होय और सैंकड़ों नीच योनियों में भी जाके अन्तरात्मा का यही ध्यान करके मांगता हूँ कि केशव की मुख्य भक्ति मेरे हृदय में होय। अब

भक्ति साधन दो प्रकारके हैं। एक त्याग-सम्बन्धी दूसरे कर्तव्य सम्बन्धी। त्याग सम्बन्धी साधन में पहले इन्द्रियों के विषय और सांसारिक संग त्याग करना अर्थात् सांसारिक चीजों से निवृत्ति करना, दूसरे अभिमान और दम्भ आदि को त्याग करना, तीसरे स्त्री धन नास्तिक और वैरियों के चरित्रको नहीं सुनना, चौथे वाद का अवलम्ब नहीं करना, क्योंकि वाद से संशय और बहुल भाव होता है, पांचवें कुसंग सर्वथा छोड़ देना, क्योंकि यह काम क्रोध मोह स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश और सर्वनाश करने का कारण है, बुरे संग से इनकी तरंगें समुद्र तरंगोंके समान बड़ी हो जाती हैं। कर्त्तव्य-सम्बन्धी साधन में प्रथम निरन्तर भजन करना दूसरे भगवत् के गुण सुनना और कीर्त्तन करना, तीसरे महात्माओं का संग (जो दुर्लभ अगम्य और सिद्धि दायक हैं) करना। ऐसा संग ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। ईश्वर और ऐसे महात्माओं में कोई भेद नहीं है। इसलिये इनका संग सर्वथा ग्रहण करना

चाहिये। चौथे जबतक भक्ति नहीं होय तबतक लोक-व्यवहार करना, परन्तु कर्मों के फल सर्वथा त्याग करना। पांचवें अपने सब आचारों को ईश्वर अर्पण करना और काम क्रोध अभिमान आदिभी उसी के प्रति करना। छठे जैसे परम स्वामिभक्त दास और परम पतिव्रता स्त्री अपने स्वामी और पतिकी सेवा करते हैं वैसे ही ईश्वर के भक्तको ईश्वर का भजन करना चाहिये। सातवें सुख दुःख इच्छा लाभ आदि छोड़ कर और कालकी प्रतीक्षा करते हुए भक्त को चाहिये कि आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोवे, आठवें अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि का पालन करना, नवें सर्वदा सब भावों से निश्चिन्त हो केवल भगवान् का ही भजन करना, दसवें सारांश यह है कि भक्ति महात्माओं की कृपा अथवा ईश्वर की कृपांश से प्राप्त होती है। ईश्वर की जिस पर कृपा होती है उसी भक्त के हृदय में वह प्रकाशमान होती है यथाः—

सूत्रः 'प्रकाश्यते कापि पात्रे

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥४॥

यह भक्ति किसी २ पात्र में प्रकाशमान होती है, जैसे व्रजकी गोपियों में 'नास्ति तेषु जाति विद्यारूप कुल धन क्रियाभेदः' ॥५॥ उस भक्ति के प्राप्त होने में जाति विद्या रूप कुल धन और क्रिया का भेद नहीं है जैसा कि:—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयोः विद्या गजेन्द्रस्य का, कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् । वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्, भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै र्भक्तिप्रियो माधवः ॥

यदि कोई कहे कि भगवान् आचरण से प्रसन्न होते हैं तो व्याधका क्या आचरण था ? जो भगवान् बड़ी आयु वाले से प्रसन्न होवें तो ध्रुवकी क्या आयु थी ? जो भगवान् विद्या से प्रसन्न होवें तो गजेन्द्र को क्या विद्या थी ? जो भगवान् अधिकरूप

वाले से प्रसन्न होवें तो कुब्जा के क्या रूप था ? जो भगवान् अधिक धनवाले से प्रसन्न होवें तो सुदामा के कहां धन था ? जो भगवान् उत्तम कुल वाले से प्रसन्न होवें तो विदुर का क्या वंश था ? जो भगवान् अधिक पुरुषार्थसे प्रसन्न होवें तो उग्रसेन का क्या पुरुषार्थ था ? भगवान् तो केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं न कि गुणों से, क्योंकि भगवान्को भक्ति ही प्रिय है। शबरी अपने मन में यह विश्वास करके कि भगवान् मेरे घरपर अवश्य पधार कर दर्शन देंगे वह नित्यप्रति भगवान् के लिये मीठे २ बेर चखकर रखती जाती थी। उस की भक्ति और प्रेम में खिंचकर भगवान् ने उसको दर्शन दिये और जात पांतका विचार न करकेभक्ति से अर्पण किये हुए झूठे बेरोंको बहुत प्रसन्न होकर स्वीकार किया, क्योंकि भगवान् तो केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भगवान् भी कहते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहिसः

अत्यन्त दुराचारी भी एक निश्चय से मेरा भजन करेगा तो उसे भी निश्चित साधु ही समझना चाहिये क्योंकि उसका निश्चय अच्छा है:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य,
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्राः,
तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

जो पाप योनियां हैं वे भी मेरा आश्रय करें तो परम पद-मोक्ष को प्राप्त होवें उसी प्रकार स्त्री, वैश्य, शूद्र कोई भी मुझको आश्रय कर के संसृतिचक्रमें नहीं पड़ता प्रत्युत परमपदको प्राप्त होता है और भी कहा है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मे भक्तःस मे प्रियः॥

सब भूतों में द्वेषरहित, सुख दुःख में, समान

चित्त वाला, क्षमावान् और सदैव सन्तोषी, स्थिर चित्त और मनका संयमी और जिसका दृढ़ निश्चय है और जिसने अपना मन बुद्धि मुझ को अर्पण कर दिया है ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः

मेरे मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मुझको नमस्कार कर, मुझको ही प्राप्त हो जावेगा, इस प्रकार अपने आपको मेरे परायण कर। यही भक्ति है और भी कहा है:—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्म पत्रमिवाम्भसा ॥

जो पुरुष कर्मफलकी कामना छोड़ कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करता है वह पाप से इस प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे पानी से कमल का पत्र लिपायमान नहीं होता। नारद सूत्रमें कहा है:—

सूत्रः—'तदर्पिता अखिलाचारता ।
तद्विस्मरणे परं व्याकुलता' ॥ ७ ॥

अपने सम्पूर्ण कर्मों को उस परमात्मा के अर्पण कर देवे और उसके विस्मरण में परम व्याकुलता होवे तो जानो कि भक्तिका समुद्र मेरे भीतर उमंग रहा है।

सूत्रः—'सतु कर्म ज्ञानेभ्योप्यधिकतरः' ॥८

वह भक्ति कर्म ज्ञान योग से भी अधिकतर है।

सूत्रः—पुनन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ९ ॥

भक्त अपने कुल और सम्पूर्ण पृथिवी को पवित्र करता है सर्व सांसारिक वासनाओं का त्याग, विशेषकर काम का त्याग करना और भगवत् चरणों में अतिशय गाढ़ प्रेम, अपनी सर्व वासनाओं के ऊपर भगवत् इच्छा का अधिकार स्थापित करना अर्थात् जितनी वासना फुरें सर्व भगवत् इच्छासे प्रेरित हों वा भगवत् इच्छा को पूर्ण करने वाली हों और उसके विरुद्ध कोई वासना न फुरने पावे, हृदय में भगवत्-प्रेमकी अमृत धारा ऐसी निरन्तर बहती रहे जैसे गंगा का प्रवाह, कभी एक क्षण भी हृदय भगवत्-प्रेम से शून्य न रहे और जैसे मीन के

र्मों को उस परमात्मा
उसके विस्मरण में प
कि भक्तिका समुद्र में

नेभ्योप्यधिकतरः' ॥८
ोग से भी अधिकतर है।
ते पृथिवीं च ॥ ६ ॥
म्पूर्ण पृथिवी को पवित्र
वासनाओं का त्याग,
ा और भगवत् चरणों
ी सर्व वासनाओं के
कार स्थापित करना
भगवत् इच्छासे
र्ण करने वाली हो
फुरने पावे, हृदय
ती निरन्तर बहती
क्षण भी हृदय
जैसे मीन के

लिये जल ही जीवन होता है वैसे ही भक्ति मार्गपर चलने वालेके लिये भगवत् प्रेम ही जीवन होता है। श्रोत्रसे भगवत् के गुण श्रवण करना, जिह्वा से उनके गुण-कीर्त्तन करना, हस्तों से पूजा और सेवा करनी, पैरोंसे उनके कार्य पूर्ण करने के निमित्त चलना या महात्माओं के दर्शन तीर्थ इत्यादि स्थानों को जाना, मुख से नाम उच्चारण करना तथ भगवत् कथा का पाठ करना, नासिका से भगवच्चरणों से स्पर्श हुए पुष्पों की सुगन्धि लेनी इत्यादि सर्वांगों को भगवत्के अर्पण करना ही जीवनका मुख्योद्देश्य है। मनसे स्वरूपका चिन्तन करना, बुद्धि से ध्यान और चित्त से स्मरण और अहंकारसे भगवत्पर अपना मान करना इस प्रकार आत्मासे आत्मनिवेदन सर्व भगवत् समर्पण करना ही जीवनका आधार है। सर्वत्र ही भगवत् के लिये व्याकुल होना भक्तिका मुख्य साधन माना गया है। पद्मपुराणमें अपनी भक्ति से अपने भक्तोंकी भक्तिको भगवान् उत्तम बतलाते हैं:—

मम भक्ताः हिये पार्थ न मे भक्तास्तु मे मताः
मद्भक्तस्यतु ये भक्तास्ते मे भक्ततमाः मताः ॥

हे पार्थ जो मेरे भक्त हैं वह भक्त नहीं किन्तु जो मेरे भक्तोंके भक्त हैं वे मेरे मतमें श्रेष्ठ हैं तुलसीदास जी भी कहते हैं:—

चौ०—मेरे मन प्रभु अस विश्वासा ।
राम ते अधिक राम के दासा ॥

भगवान् अपने भक्तों के लिए अपने प्रणको छोड़ भक्तों के प्रण पालते हैं। जिस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा छोड़ भीष्मजीकी प्रतिज्ञा पूरी करी इससे परमभक्त भीष्म पितामह पूरा विश्वास कर ये शब्द कहते हैं:—

आज जो मैं हरि हौं शस्त्र न गहाऊँ ॥टेक॥
तो लाजूँ गंगा जननी को शान्तनु सुत न कहाऊँ॥१॥
स्यन्दन खण्ड सारथि खण्डों कपिध्वज सहित गिराऊँ
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ॥३
इतनो न करूँ शपथ मोय हरिकी छत्री गति नहीं पाऊँ॥४
सूरदास रण भूमि विजय बिन जीवत न पीठ दिखाऊँ॥५

इसी प्रकार सच्चिदानन्द श्रीपुरुषोत्तम श्रीराम चन्द्रजी लक्ष्मण और सीता सहित नदी तटपर पहुँच कर केवटको नौका लानेकी आज्ञा दी तो केवट भगवान्का परमभक्त उनकी आज्ञानुसार नौका लाकर उपस्थित हुआ और प्रेमपूर्वक बोला, महाराज अपने चरणोंको प्रथम धुलवाकर नौकापर आरूढ़ हूजिये क्योंकि आपके चरणोंकी रजसे पाषाणकी बनी हुई शिला स्वर्गको चली गई ऐसे ही मेरी नौका चली गई तो मेरा निर्वाह किस प्रकार होगा और मैं अपने कुटुम्ब सहित आपके चरणामृतका जो पान करूँगा तो हमारा स्वर्ग में वास होगा। तो भगवान ने अपने भक्तकी विनय सुनकर ऐसा ही किया। जब पार उतर कर उसको उतराई देने लगे तो उस ने निम्नलिखित प्रेम भरे शब्द कहे:—

अहं तु नद्याः पर पार कर्त्ता।
त्वं वै भवाब्धेः परपारकर्त्ता॥
न नाविकां नाविक एव कर्म।
मौल्यं लभेत्तर्हि कथं तदेमि॥

हे महाराज ! मैं इस नदी से पार उतारने वाला हूँ और तुम संसारसे पार उतारने वाले हो। इससे दोनों मल्लाह ठहरे। नाविक से नाविक उतराई नहीं लेता है सो मैं यह अनरीत कैसे करूँ।

त्वत्तो न गृह्णामि यथाह मेद्यः।
ग्राह्यं तथा वै भवता न तत्र॥
इत्थं प्रकारेण मया त्वया च।
धर्मव्यवस्था परिपालनीया॥

आज मैं जैसे तुमसे उतराई नहीं लेता हूँ इसी प्रकार जब मैं कुटुम्ब सहित आपके घाटपर आऊँ तब मुझसे आप उतराई न लें इस प्रकार मुझको धर्मकी व्यवस्था पालन करनी चाहिये। यही भवा हिन्दीमें भी एक महात्माने कहा है:—

सवैया

जात पात न्यारी करी हमरी तुम्हारी नाथ।
केवट के कर्म एक नीके कै निहारिये॥
तुम तो उतारो भव सागर परमारथ।
सरिता उतार हम कुटुम्ब गुजारिये॥
नाई ते न नाई लेत धोबी न धुलाई लेत।

देके उतराई मोह जात न बिगारिये ॥
पेशा अधमाई जान आपको उतार दीनो,
थारे घाट आये नाथ मोहको उतारिये ॥

इसी प्रकार जब भगवान् शिवरीके यहां गये तो जात पातका कुछ ख्याल न करके केवल भक्तिका गाढ़ा नाता माना जैसा कि अध्यात्म रामायण में लिखा है:—

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा-
जाति नामाश्रमोद्भवः ।
न कारण मद्भजने भक्तिरेवहि कारणम् ॥
यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहं शक्तो मद्भक्तिविमुखैः सदा

रामजी कहते हैं कि पुरुष, स्त्री जाति और आश्रम यह मेरे भजनमें कोई कारण नहीं केवल भक्ति ही कारण है और जो मेरी भक्ति से विमुख हैं वे यज्ञ दान तप और वेदाध्ययनादि कर्मों को करके मुझे कभी नहीं देख सकते। इस कलिकालमें तो मनुष्य केवल भगवान्की भक्ति से ही संसार-सागर से पार हो सकता है। एक समय नारदजी ने भग-

वान् के पास जाकर पूछा कि भगवन् ! इस कलिकाल में मनुष्य इस अपार संसार से किस प्रकार पार हो सकता है तो भगवान् ने कहा कि कलियुग में तो केवल भक्ति ही से मनुष्य पार हो सकता है क्योंकि कहा है कि 'कलौ तु केवला भक्तिः' इस शास्त्र के प्रमाण से कलियुगमें भगवान्की भक्ति ही इस संसार-सागरसे पार उतार सकती है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में भक्तिके विना श्रम करना वृथा ही है उन्हें कुछ प्राप्त नहीं होता जैसा भागवत्के दशम स्कन्ध में ब्रह्माजी कहते हैं:—

श्रेयस्करां भक्तिमुदस्यते विभो.
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद्यथा स्थूल तुषावघातिनाम् ॥

हे विभो ! जो आपकी कल्याणकारी भक्ति को छोड़कर ज्ञानप्राप्तिके लिये अन्यत्र क्लेश उठाते फिरते हैं, उनको चावलोंके तुषको कूटनेपर जिस प्रकार क्लेशके सिवा कुछ नहीं मिलता, इसी प्रकार उनको

भी दुःखके सिवा कुछ नहीं मिलता। विदुरने कहा है 'हरिका नाम ही मेरा जीवन है'। कलियुग में और प्रकारसे गति नहीं है, जो भगवान् की भक्ति करते हैं भगवान् उनकी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं क्यों कि त्रिलोकी की रक्षाकी चिन्ता रघुनाथ जी को है। कहा भी है:—

यो रामो न जघान वज्रसिरणे,
तं रावणं सायकै-
र्हृद्यस्य प्रतिवासरं वसति सा,
तस्याह्यहं राघवः।
मय्यास्ते भुवनावली परिवृता,
द्वीपैः समं सप्तभिः।
स श्रेयो विदधातु नस्त्रिभुवन-
स्त्राणैकचिन्तापरः॥

अहर्निश जो रघुनाथजी को भजते हैं उन्हीं की विपत्ति दूर होती है। जिस समय रावण सीताको हरकर विकट भूमिमें ले गया जहां मनुष्यकी गति

नहीं, क्षणमें सृष्टिका संहार करनेवाले जो रघुनाथ हैं वह रावणको क्यों नहीं मारते कि रामचन्द्रजी ने विचारा कि सीता रावणके हृदयमें अहर्निश वास करती है और उसके हृदयमें मैं निवास करता हूँ और मैं भक्तोंके हृदयमें निवास करता हूँ तो कभी भक्तोंको कष्ट न पहुँचे। वे तो त्रिलोककी रक्षाकी चिन्ता में लगे रहे हैं तो भक्तोंको क्लेश क्यों होगा उनकी रक्षा तो भगवान् सर्वदा सब कालमें करते हैं अतएव जो ध्यानमें नहीं आते और प्रकट नहीं और जिनका अन्त नहीं तथा अविनाशी, समर्थ, तथा सर्व व्यापी और तीनों लोकके विस्तारके विचारनेवाले तथा महात्माओंकी गति ऐसे जो प्रभु हरि हैं तिनकी शरणमें होना चाहिये। भक्त शिरोमणि जो प्रल्हाद जी हुए हैं उनके पिताने राज्य-कार्यकी शिक्षाके लिए ब्राह्मण नियुक्त करके कहा—हे विद्वान! हमारे पुत्र को राज्य-कार्यकी शिक्षा देवो। यह श्रवण करके विद्वान् उपदेश करने लगा परन्तु भक्त शिरोमणि प्रल्हादजी ने राम नामको छोड़कर और कुछ ग्रहण न किया। देखो कि प्रल्हादजी ने कैसे कैसे संकट

भोगे। निर्दयी पिताने भक्त प्रल्हादजी को कभी तो बड़े विकट पहाड़से गिरा दिया, कभी विष खानेको दे दिया, कभी बड़े घोर वनमें सिंह व्याघ्रोंके अगाड़ी गिरा दिया, कभी शस्त्रोंका प्रहार किया, तिस पर भी प्रल्हादजी बड़े बड़े क्लेशों को भी सहन करके परमात्माको भजते ही रहे और माता से कहाः—

जननी विष मोहि दे पिलाय,
अब और कुछ तो नहीं उपाय।
मेरे आप हरी करले सहाय,
इक बांह पकरके खैंच लाय॥
मोहि गिरि पर्वतसे दियो गिराय,
तहां आप हरिने मोहि लियो उठाय।
इक जलती अग्नितमें दिया बिठाय,
तहँ कूद परे हरि आप धाय॥
मोहि अमृत हृदयसे लियो लगाय,
हरि की गति मोपै लखी न जाय।
मेरे रोम रोम में रह्यो समाय॥

और भी प्रल्हादजी ने कहा हैः—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

हे नाथ जिन हज़ारों योनियों में मैं जाऊँ अर्थात् जन्म लूँ हे अच्युत. उन उनमें तुम्हारे विषय में अचल भक्ति होय, जो मनुष्य भगवान्को किसी भी नामसे स्मरण करता है वह नरकसे इस प्रकार निकल जाता है जैसे जलको फोड़कर कमल।

कृष्ण भगवान् भी कहते हैं:—

नित्यं वदामि मनुजाः स्वयमूर्ध्वबाहु,
यों मां मुकुन्द नरसिंह जनार्दनेति ।
जीवो जपत्य नुदिनं मरणे रणे वा,
पाषाण काष्ठसदृशाय ददाम्यभीष्टम् ॥

हे मनुष्यों ! मैं भुजा उठाकर सदा कहता हूँ कि जो मरणमें वा रणमें मुकुन्द नरसिंह जनार्दन ऐसे प्रतिदिन मुझे जपता है वह चाहे पाषाण और काष्ठ के सदृश भी क्यों न हो, तो भी उसको वांछित फल अर्थात् मुक्ति देता हूँ इससे सर्वदा भगवान्का ही

भजन करना चाहिये। अपने सारे कर्म उन्हीं के अर्पण समझना चाहिये। यथाः—

जपो जल्पः शिल्पं सकल-
मपि मुद्रा विरचना।
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमण,
मदनान्याहुतिविधिः .
प्रणामः संवेशः सकल-
मिदमात्मार्पण विधौ।
सपर्या पर्यायस्तव भवतु,
यन्मे विलसितम् ॥१॥
आत्मा त्वं गिरिजा मतिः,
सहचराःप्राणाःशरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोगरचना,
निद्रा समाधि स्थितिः।
संचारःपदयोःप्रदक्षिण विधिः,

स्त्रोत्राणिसर्वा गिरो ।
यद्यत्कर्मकरोमि तत्तदखिलं-
शम्भो स्तवाराधनम् ॥२॥

और जो मनुष्य अपने किये कर्मों में अहंभाव समझता है अपनी प्रत्येक क्रिया को भगवत्के अर्पण नहीं समझता और जो इस पृथ्वीपर भगवद्भक्तिसे शून्य अपने जीवनको बिताता है उनका जीना पृथ्वी पर भार रूप ही है। शिव भगवान् कहते हैं:—

न भूम्याःपर्वतो भारो न मे भारोवनस्पतेः ।
विष्णु भक्ति विहोनस्य तस्य भारो सदा मम

मुझे भूमिका भार है न पर्वतों का न वनस्पतियों का किन्तु जो विष्णु भक्ति से विहीन हैं उनका भार सदा मेरे ऊपर है। किसी कवि ने कहा है:—
राज वृथा गजराज वृथा बनिता जो वृथा नहिं तरुन समाने
गर्व वृथा गुण सर्व वृथा अरु द्रव्य वृथा जो चले न चलाने
यार वृथा परिवार वृथा संसार वृथा गुरु नित्य चिताने
एक रकार मकार बिना धिक्कार सभी चतुराई की बातें॥

चारों ही वेद पुराण अठारहों चौंसठ तंत्रको मंत्र विचारे
तीन सौ साठ महा मंत्र संयम मंगल यज्ञ पुरी पुर सारे॥
योग वियोग प्रयोग उपासन मैं हरि व्रत सभी निरधारे
तीन ही लोकनके सारे फल मैं हरि नामके ऊपर वारे
काहेको वैद्य बुलावत हो मोहि रोग लगा जिन नारी गहोरे
वह मधु आमधुरी मुसकाननिहारे बिनाकहो कैसेजियोरे
चन्दन लाय कपूर मिलाय गुलाब छिपाय दुराय धरोरे।
और इलाज कछू न बने व्रजराज मिले सो इलाज करोरे॥३

अतएव हम सबको भगवद्भक्ति में ही अपना जीवन बिताना चाहिये। यही मनुष्य जीवनका मुख्योद्देश्य है भगवान् अपने कल्याणकारी वचनों से किस प्रकार अपने भक्तों का कल्याण करते हैं यथाः--

कृष्ण त्वं पठ किं पठामि,
ननुरे शास्त्रं किमु ज्ञायते।
तत्त्वं कस्यविभोःसकस्त्री-
भुवनाधीश्चतेनापिकिम्।
ज्ञानं भक्तिरथो विरक्ति-

रनया किं मुक्तिरेवास्तुते ॥
दध्यादीनि भजामि मातुरुदितं
वाक्यं हरेःपातुवः ॥

रे लाला कृष्ण ! क्यों री माता ? लाला पढ़ ! क्या पढ़ूँ री ? प्यारे शास्त्र ! हे माता ! शास्त्र पढ़ने से क्या होगा ? पुत्र तत्व जाना जायगा । किसका ? परमात्माका । हे माता ! परमात्मा कौन हैं ? ललवा ! त्रिलोकके नाथ । हे माता ! उससे क्या होगा ? ज्ञान और भक्ति । भक्ति से क्या होगा ? हे पुत्र मुक्ति । वह तो मुझे मिले री मैया ! ऐसे अगड़ फगड़ झगड़ों से मुझे क्या मिले ? मैं तो दधि चूड़ा खाने को लेऊँगा । भगवान्के यह वाक्य हमको पवित्र करें । और भी कहा है:--

अभिनवनवनीतस्निग्ध मापीत दुग्धं,
दधिकणपरिदिग्धंमुग्धमंगं मुरारेः ।
दिशतु भुवनकृच्छ्रच्छेदिता पिच्छगुच्छच्छ-
विनव शिखि पिच्छैःलाञ्छितं वाञ्छितं नः ॥

नवीन घृतके खायवेसे दुग्धसे संचित दधि से युक्त भगवान्का अंग और भुवनके क्लेशको दूर करनेवाला तमाल के से गुच्छोंका सा जिनका श्याम वर्ण, नवीन मयूरकी पंखोंका जिनका चिह्न ऐसे त्रिलोकीनाथ अपने लोगों को वांछित फल देवें।

मैं आनन्द-सागर व्रज नागर, नटवर निरञ्जनकी पीतपट झटपट यमुनाके तट के निकट पकरके कदम्ब की छटाको बढ़ाने वाले को, चन्द्रको चमत्कारीकी चिन्ताका पातक वर्षाकाल की बाट देखने वाला पुष्पकीण से शिलाको भेदने की इच्छा वाला समुद्र को छोटी नौका से तैरने की इच्छा वाला आनन्दकन्द हरिके चरण पुञ्ज को कोटिशः प्रणाम करता हूँ।

बोलो नटवर गिरधारी की जय!

ओ३म् तत्सत्

अथ ब्रह्म चिन्तनम्

गमागमस्थं गमनादि शून्यं,
चिद्रूपदीपं तिमिरान्धनाशम्।
पश्यामि तं सर्व जनान्तरस्थं,
नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥
हंसो गणेशो विधिरेव हंसो,
हंसो हरिर्हंसमयश्च शम्भुः ।
हंसोऽहं जीवः परमात्म हंसो,
हंसोऽयमात्मा गुरुदेव हंसः॥१
स्वराज्य साम्राज्य विभूतिरेषा,
भवत्कृपा श्री महिमः प्रसादात्
प्राप्ता मया श्री गुरवे महात्मने,
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु॥२

सर्वाधारं सर्व वस्तु प्रकाशं ।
सर्वाकारं सर्वगं सर्व शून्यम् ॥
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ।
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥३॥
नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं ।
पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ॥
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी ।
निरीश्वरोऽहं निरहं चनिर्ममः॥
आकाश वल्लेप विदूरगोऽहं ।
आदित्य वद्भास्य विलक्षणोऽहम्॥
आहार्य्यवन्नित्य विनिश्चलोऽहं ।
अम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्॥५
नित्योदितं विमल माद्यमनन्त रूपं ।
ब्रह्माऽस्मि नेतरकला कलन हि किंचित्
इत्येव भावय निरञ्जनता मुपेतो ।
निर्वाण मेहि सकलामलशान्तवृत्तिः॥६

गमागमस्थं गमनादिशून्यं ।
ओंकारमेकं रवि कोटिदीप्तिम् ॥
पश्यन्ति ये सर्व जनान् तरस्थं ।
हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥७॥
निर्गुणो निष्क्रयो नित्यो ।
निर्विकल्पो निरंजनः ॥
निर्विकारो निराकारो ।
नित्यमुक्तोऽस्मिनिर्मलः ॥८॥
नित्यः शुद्ध विशुद्धैक ।
मखण्डानन्द मद्वयम ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं य-
त्परब्रह्माहमेवत तत् ॥९॥
नित्योहं निरवद्योहं ।
निष्क्रियोऽस्मि निरंजनः ॥
निर्मलो निर्विकल्पोहं ।
निराख्यातोऽस्मि निर्मलः ॥

पुरुषः परमात्माहं ।
पुराणः परमोऽस्म्यहम् ॥११॥
परावरोस्म्यह प्राज्ञः।
प्रपंचोपशमोऽस्म्यहम् ।
प्रज्ञातोहं प्रशान्तोऽहं ।
प्रकाशः परमेश्वरः ॥
एकधा चिन्त्य मानोऽहं ।
द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥१२॥
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा ।
सव प्रेप्रास्पदोस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्द मात्रोऽहं,
स्वप्रकाशोस्मि चिद्घनः ॥
अहं ब्रह्म चिदाकाशं ।
नित्यं ब्रह्म निरंजनम् ॥
शुद्धं बुद्धं सदामुक्त-
मनामकमरूपकम् ॥१४॥

सर्व प्रकाश रूपोऽहं ।
परावरसुखोऽस्म्यहम् ॥
सत्तामात्रस्वरूपोऽहं ।
शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥१५॥
निर्गुणः केवलात्मास्मि ।
निराकारोस्म्यहं सदा ॥
केवलं ब्रह्ममात्रोस्मि ।
ह्यजरो ह्यमरोस्म्यहम् ॥१६॥
मुक्तोऽहं मोक्ष रूपोऽहं,
निर्वाणसुखरूपवान् ।
तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि ।
तुर्यातुर्यादिवर्जितः ॥१७॥
अहमेव हरिः साक्षा-
दहमेव सदाशिवः ॥
सर्वं ब्रह्मैव सततं ।
सर्वं ब्रह्मैव चेतनम् ॥१८॥

ब्रह्म मात्रं श्रुतं सर्वं ।
स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥
अहमेव गुणातीत ।
अहमेव परात्परः ॥१९॥
ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ।
ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ॥
ब्रह्मैवाहं न संसारी ।
ब्रह्मैवाहं न मे मनः ॥२०॥
चैतन्यमात्रमोङ्कारं-
ब्रह्मैव सकलं स्वयम् ।
अहमेव जगत्सर्वं ।
अहमेव परं पदम् ॥२१॥
बुद्धोऽहं भूत पालोऽहं,
भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि ।
महाज्ञेयो महेश्वरः ॥२२॥

चिदक्षरोऽहं सत्योहं ।
वासुदेवोऽजरोऽमरः ॥
अहमेव गुणातीत ।
रहमेव परात्परः ॥२३॥
केवलं शान्त रूपोऽहं ।
केवलं चिन्मयोस्म्यहम् ॥
केवलं नित्यं रूपोऽहं ।
केवलं शाश्वतोस्म्यहम् ॥२४॥
आनन्द रूपोऽहमखण्ड बोधः ।
परात्परोऽहं घनचित्प्रकाशः ॥
चिद्रूपमेव प्रतिभानयुक्तं ।
तस्मादखण्डं मम रूपमेतत्॥१५॥

मैं कौन हूँ ? मैं जीव नहीं, किन्तु आत्मा हूँ। मेरा संसार से कुछ सम्बन्ध नहीं। मुझको पूछने वाला एक परम पुरुष है। मैं परब्रह्म परमात्माका अंश हूं। उसके और मेरे अस्तित्वमें कुछ भी भेद

नहीं है। मैं सर्वत्र प्रकाशमान परिपूर्ण हूं। मैं सबका उत्पादक परिपालक और संहारक हूँ । जलाशय के जलमें, अंजली के जलमें, सीमा व्यतिरिक्त तत्व स्वभाव गुण शक्तिमें कुछ भी भिन्नता नहीं। मैं अपने जीवन पोषक द्रव्यका नियमित आकर्षण करता हूँ। जिससे मेरा शरीर और मानसिक बल खूब बढ़ रहा है। मुझ में सुख शान्ति का खूब भान हो रहा है। मैं अपने मानस-स्वरूप का ईश्वर के रूप में रूपान्तर कर रहा हूं। अतएव मैं प्राणीमात्र को उदार भाव से देखता हूं। मैं सर्वत्र प्रकाश को देख रहा हूं। मैं स्वयं प्रसन्न रह कर सबको प्रसन्न कर रहा हूं। मैं नित्य हूं, आत्माराम हूं, सुखमय हूं, अनिर्वेद हूं। उत्साहपूर्ण हूं, उन्नत हूं, सबको उन्नत कर रहा हूं। प्रेम कर रहा हूं। आनन्द मंगलकर रहा हूँ। ईश्वरका भान करा रहा हूँ। स्वयं आनन्दित रहकर सबको आनन्दित कर रहा हूँ। प्रेम, पूजा, भक्ति बढ़ा रहा हूँ। शुभप्रेरणा शुभाशीष मुझ में स्फुरण पाकर समानान्तः करण पद्धति द्वारा मुझ में विशेष संचित होते हैं, संचालित होते हैं, सम्यक्

प्रकार से प्रवाहित होते हैं। मैं अत्यन्त शुद्धाचरणों और पवित्रताको अनुभव कर रहा हूँ। मेरे भीतर से पवित्रतायें और भलाइयां बह रही हैं। प्रकाशका रूप धारणकर सबको प्रकाशन कर रही हैं। मैं सच्चिदानन्द स्वरूपका अपने निज रूपका निज रूप में सम्मेलन कर रहा हूँ। मेरा जठर बलवान उसकी क्रिया बलवान परिणाम बलवान भोजनका परिपाक रक्ताभिसरण संचार हो रहा है। मेरे शरीर पर किसी रोगका आक्रमण नहीं होता। मैं कभी वृद्ध नहीं होता हूँ। मेरे शरीर में कभी आलस्य नहीं आता कभी उदासीनता नहीं आती। मैं सत्य संकल्प और सत्यान्वित हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, मैं बलवान, निरामय, दृढ आग्रही कार्य तत्पर हूँ। सदा निर्भय, निशंक हूँ। शान्तिपूर्वक सुन्दर विचार करता हूँ। विचारों के सुन्दर चित्र बनाता हूँ। उन को चित्रावली बनाके अपनी चित्तभित्तिपर लटकाता हूँ। चित्र मुझमें अन्तर्हित होते हैं। विचारों के चित्रोंमें कल्पनाके चित्र विचित्र रंग भरे हुए हैं। हैं। उनमें प्रेम सम्वेदन, कोपका निर्वेदन मधुरत

का द्योतन भरा हुवा है। चित्रोंमें अनेक भावनाओं की रेखायें अंकित होती हैं. विराम पाती हैं. विलीन होती हैं। विचार चित्र मुझे मोहित कर रहे हैं। मुग्ध कर रहे हैं स्तम्भित कर रहे हैं। विचार के चित्रों में से अग्नि, वायु, आकाश का रूप प्रकट हो रहा है। विद्युत की धारा बह रही है। विद्युत्कण चमक रहे हैं। मेरे रोम रोम में रक्त के कण कणमें उनका भान हो रहा है। मेरी सत्ता अमोघ है, मेरी आज्ञा अनुल्लङ्घ्य है, मेरा निश्चय दृढ़ है, मेरी आज्ञा प्रबल है। मेरी प्रतिभा अद्भुत है। मेरी कल्पना विचित्र है। मेरा स्वभाव स्वतन्त्र है। मेरा हृदय पवित्र है, मेरा जीवन सुखमय है और मेरा व्यवहार सत्य है, विजयलक्ष्मी, जयपताका, धन, समृद्धि मेरी दासी हैं। परिश्रम, प्रयत्न, उद्योग, यह मेरे दास हैं। सुख, शान्ति, आनन्द, उत्साह, आरोग्य, वैभव पर मेरा अधिकार है। मैं सबका चालक, द्योतक, पालक हूँ। मेरे अतिरिक्त परमाणु नहीं। मैं परमाणुके अतिरिक्त नहीं। मैं सबका सम्राट्, महाराजा धनी, सबका मालिक हूँ। मुझमें

ईश्वर है, मैं ईश्वर में हूँ। ईश्वर और मैं अभिन्न हूँ। कर्त्तमकर्तुमन्यथा, कर्तृ शक्तिमान हूँ, सबका प्रेरक भारवाहक संरक्षक हूँ। मेरी आज्ञा में पंच भूत हैं। मेरी आज्ञा में चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्र तारे हैं—

मयि अखड सुखाम्भोधौ,
बहुधा विश्व वीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते,
माया मारुत विभ्रमात्॥

सब संकल्प का ही आविष्कार है। जैसे संकल्प किये जाते हैं वैसा ही उनका मूर्त्त स्वरूप बन कर जगत् की स्थिति होती है। संकल्प ही जगत् है। जैसा पुरुष संकल्प करता है वैसा ही वह स्वयं हो जाता है। यथाः—

सति सक्तं नरो याति,
मद्भावं ह्यकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरीं ध्यायन्,
भ्रमरत्वाय कल्पते॥

जैसे भ्रमरिका ध्यान करता कीट भ्रमरत्वको प्राप्त होता है वैसे ही एक निष्ठासे ब्रह्मका ध्यान करता हुवा पुरुष ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है। अतएव हम सबको सावधान होकर बार बार ब्रह्म ही चिन्तन करना चाहिये। एक महात्मा ने कहा है:—

सवैया

जो मन नारीकी ओर निहारत,
तो मन होत है ताहिको रूपा।
जो मन काहूसे क्रोध करे, तब-
क्रोध मयी हो जाय तद्रूपा॥
जो मन माया ही माया रटे नित,
तो मन डूबत मायाके कूपा।
सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत,
तो मन होत है ब्रह्म स्वरूपा॥

जो मनुष्य श्रद्धा भक्तिसे नित्यप्रति इसका पाठ करेगा वह पाप पुण्यसे इस प्रकार लिपायमान नहीं होसकता जैसे कमलका पत्र जलसे और वह स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जायगा।

॥ इति समाप्तः ॥

ग़ज़ल

महलमें जोगी बसता है गाहे हंसता है गाहे रोता है।
दिल उसका कहीं न फँसता है तन मनमें चैन बरसता है
खुश फिरता नंगम नंगा है नयनों में बहती गंगा है।
जो आजावे सो चंगा है मुख रंग भरा मन रंगा है॥
गाता मौला मतवाल है जब देखो भोला भाला है।
मन मणिका उसकी माला है तन उसका एक शिवाला है॥
नहीं परवा मरने जीने की है याद न खाने पीने की।
कुछ दिनकी सुध न महीनेकी है पवन रुमाल पसीने की॥
पास इसके पक्षी आते हैं दरया गीत सुनाते हैं।
बादल स्नान कराते हैं वृक्ष उसके रिश्ते नाते हैं॥

ग़ज़ल

अगर है शोक मिलने का तो हरदम लौ लगाता जा।
न रख रोजा न मर भूखा न जा मसजिद न कर सिजदा॥
बजू का तोड़ दे कूजा शराबे शोक पीता जा॥ १॥
फेंक तसबी तोड़ माला किताबां डाल पानी में।
मशायक बन के बैठा रह मशीयत को सिखाता जा॥२॥
इशक की पकड़ कर झाड़ू सफा कर दिलके हुजरेको।
दुई की धूर को लेकर मुसल्लम पर उड़ाता जा॥ ३॥
कहे मंसूर सुन काज़ी निवाला कहर का मत खा।
अनलहक को सभी जाने यही कलमा पढ़ाता जा॥४॥